आत्मकथा अंश

सत्य के प्रयोग

- मोहनदास करमचन्द गांधी

लेखक-परिचय

मोहनदास करमचन्द गांधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 को गुजरात (काठियावाड़) के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ। गांधी भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रमुख नेता थे। उन्होंने सत्याग्रह (सविनय अवज्ञा) के माध्यम से ब्रिटानिया हुकूमत के अत्याचारों के प्रतिकार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके सत्याग्रह की नींव अहिंसा सिद्धान्त पर आधारित थी। आज पूरा संसार उन्हें 'महात्मा गांधी' के नाम से जानता है। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने 6 जुलाई, 1944 को रंगून रेडियो से गांधी के नाम जारी प्रसारण में उन्हें 'राष्ट्रपिता' कहकर सम्बोधित करते हुए आजाद हिन्द फौज के लिए उनका आशीर्वाद और शुभकामनाएँ माँगी थी। देश में प्रतिवर्ष उनका जन्मदिवस 'गांधी जयन्ती' और विश्व में 'अन्तरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस' के रूप में मनाया जाता है। इनका निधन 30 जनवरी, 1948 को हुआ।

पाठ-परिचय

इस पुस्तक में महात्मा गांधी द्वारा लिखित 'सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा' के काशीनाथ त्रिवेदी द्वारा अनूदित कुछ अंशों का संकलन है। पाठ का 'सभ्य पोशाक में' अंश जहाँ विद्यार्थियों को छद्म आकर्षणों से परे रहकर विद्यार्थी बनने की सलाह देता है, वहीं 'बलवान से भिड़न्त' में अन्याय से डटकर मुकाबला करने की हिम्मत बँधती है। 'आत्मिक शिक्षा' हमें संयम और आत्म-निर्माण के लिए प्रेरित करती है। 'शांति निकेतन' अंश में गाँधी जी ने भारतीय जीवन मूल्यों से ओत-प्रोत संस्कार, सहयोग व समरसता से साक्षात्कार कराया है तो 'खादी का जन्म' में स्वावलम्बन एवं स्वदेशी की महत्ता उजागर की है। इस प्रकार गांधी जी की आत्मकथा हमें सात्त्विक एवं सार्थक जीवन जीने के लिए प्रेरित करती है।

****

'सभ्य' पोशाक में

अन्नाहार पर मेरी श्रद्धा दिन पर दिन बढ़ती गयी। सॉल्ट की पुस्तक ने आहार के विषय में अधिक पुस्तकें पढ़ने की मेरी जिज्ञासा को तीव्र बना दिया। जितनी पुस्तकें मुझे मिलीं, मैंने खरीद लीं और पढ़ डालीं। उनमें हावर्ड विलियम्स की 'आहार-नीति' नामक पुस्तक में अलग-अलग युगों के ज्ञानियों, अवतारों और पैगम्बरों के आहार का और आहार-विषयक उनके विचारों का वर्णन किया गया है। पाइथोगोरस, ईसा मसीह इत्यादि को उसने केवल अन्नाहारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। डॉक्टर मिसेज ऐना किंग्सफर्ड की 'उत्तम आहार की रीति' नामक पुस्तक भी आकर्षक थी। साथ ही, डॉ. एलिन्सन के आरोग्य-विषयक लेखों ने भी इसमें अच्छी मदद की। वे दवा के बदले केवल आहार के हेर-फेर से ही रोगी को नीरोग करने की

पद्धति का समर्थन करते थे। डॉ. ऐलिन्सन स्वयं अन्नाहारी थे और बीमारों को केवल अन्नाहार की ही सलाह देते थे। इन सब पुस्तकों के अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि मेरे जीवन में आहार-विषयक प्रयोगों ने महत्त्व का स्थान प्राप्त कर लिया। आरंभ में इन प्रयोगों में आरोग्य की दृष्टि मुख्य थी। बाद में धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि बनी।

इस बीच मेरे उन मित्र को तो मेरी चिन्ता बनी ही रही। उन्होंने प्रेमवश यह माना कि अगर मैं मांस नहीं खाऊँगा, तो कमजोर हो जाऊँगा। यही नहीं, बल्कि मैं बेवकूफ बना रहूँगा; क्योंकि अंग्रेजों के समाज में घुलमिल ही न सकूँगा। वे जानते थे कि मैं अन्नाहार-विषयक पुस्तकें पढ़ता रहता हूँ। उन्हें डर लगा कि इन पुस्तकों के पढ़ने से मैं भ्रमित-चित्त बन जाऊँगा, प्रयोगों में मेरा जीवन व्यर्थ चला जायेगा, मुझे जो करना है उसे भूल जाऊँगा और 'पोथी-पंडित' बन बैठूँगा। इस विचार से उन्होंने मुझे सुधारने का एक आखिरी प्रयत्न किया। उन्होंने मुझे नाटक दिखाने के लिए न्योता। वहाँ जाने से पहले मुझे उनके साथ हॉबर्न भोजनगृह में भोजन करना था। मेरी दृष्टि में यह गृह एक महल था। विक्टोरिया होटल छोड़ने के बाद ऐसे गृह में जाने का मेरा यह पहला अनुभव था। विक्टोरिया होटल का अनुभव तो निकम्मा था; क्योंकि मानना होगा कि वहाँ मैं बेहोशी की हालत में था। सैंकड़ों के बीच हम दो मित्र एक मेज के सामने बैठे। मित्र ने पहली 'प्लेट' मंगाई। वह 'सूप' की थी। मैं परेशान हुआ। मित्र से क्या पूछता?मैंने तो परोसने वाले को अपने पास बुलाया।

मित्र समझ गये। चिढ़कर मुझसे पूछा :

''क्या है?''

मैंने धीरे से संकोचपूर्वक कहा :

''मैं जानना चाहता हूँ कि इसमें मांस है या नहीं?''

''ऐसे गृह में यह जंगलीपन नहीं चल सकता। अगर तुम्हें अब भी यही किच-किच करनी हो, तो तुम बाहर जाकर किसी छोटे से भोजनगृह में खा लो और बाहर ही मेरी राह देखो।''

मैं इस प्रस्ताव से खुश होकर उठा और दूसरे भोजनालय की खोज में निकला। पास ही एक अन्नाहार वाला भोजनगृह था। पर वह तो बन्द हो चुका था। मुझे समझ न पड़ा कि अब क्या करना चाहिए। मैं भूखा रहा। हम नाटक देखने गये। मित्र ने उक्त घटना के बारे में एक भी शब्द मुँह से न निकाला। मेरे पास तो कहने को था ही क्या?

लेकिन यह हमारे बीच का अन्तिम मित्र-युद्ध था। न हमारा सम्बन्ध टूटा, न उसमें कटुता आई। उनके सारे प्रयत्नों के मूल में रहे हुए प्रेम को मैं पहचान सका था। इस कारण विचार और आचार की भिन्नता के रहते हुए भी उनके प्रति मेरा आदर बढ़ गया।

पर मैंने सोचा कि मुझे उनका डर दूर करना चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं जंगली नहीं रहूँगा। सभ्य के लक्षण ग्रहण करूंगा और दूसरे प्रकार से समाज में समरस होने योग्य बनकर अन्नाहार की अपनी विचित्रता को छिपा लूँगा।

मैंने 'सभ्यता' सीखने के लिए अपनी सामर्थ्य से परे का और छिछला रास्ता पकड़ा।

विलायती होने पर भी बम्बई के कटे-सिले कपड़े अच्छे अंग्रेज समाज में शोभा न देंगे, इस विचार

से मैंने ''आर्मी और नेवी' स्टोर में कपड़े सिलवाये। उन्नीस शिलिंग की (उस जमाने के लिहाज से तो यह कीमत बहुत ही कही जायेगी) 'चिमनी' टोपी सिर पर पहनी। इतने से संतोष न हुआ तो बॉण्ड स्ट्रीट में, जहाँ शौकीन लोगों के कपड़े सिलते थे, दस पौण्ड पर बत्ती रखकर शाम की पोशाक सिलवाई। भोले और बादशाही दिलवाले बड़े भाइयों से दोनों जेबों में लटकाने लायक सोने की एक बढ़िया चेन मँगवायी और वह मिल भी गयी। बंधी-बंधाई टाई पहनना शिष्टाचार में शुमार न था, इसलिए टाई बाँधने की कला हस्तगत की। देश में आईना हजामत के दिन ही देखने को मिलता था, पर यहाँ तो बड़े आईने के सामने खड़े रहकर ठीक से टाई बाँधने में और बालों में पट्टी डालकर सीधी माँग निकालने में रोज लगभग दस मिनट तो बरबाद होते ही थे। बाल मुलायम नहीं थे, इसलिए उन्हें अच्छी तरह मुड़े हुए रखने के लिए ब्रश (झाडू ही समझिये!) के साथ रोज लड़ाई चलती थी। और, टोपी पहनते तथा निकालते समय हाथ तो मानो माँग को सहेजने के लिए सिर पर पहुँच ही जाता था और बीच-बीच में, समाज में बैठे-बैठे, माँग पर हाथ फिराकर बालों को व्यवस्थित रखने की एक और सभ्य क्रिया बराबर चलती ही रहती थी।

पर इतनी टीमटाम ही काफी न थी। अकेली सभ्य पोशाक से सभ्य थोड़े ही बना जा सकता था?मैंने सभ्यता के दूसरे कई बाहरी गुण भी जान लिये थे और मैं उन्हें सीखना चाहता था। सभ्य पुरुष को नाचना जानना चाहिए। उसे फ्रेंच अच्छी तरह जान लेनी चाहिए; क्योंकि फ्रेंच इंगलैण्ड के पड़ोसी फ्रांस की भाषा थी और सारे यूरोप की राष्ट्रभाषा भी थी। और मुझे यूरोप में घूमने की इच्छा थी। इसके अलावा, सभ्य पुरुष को लच्छेदार भाषण करना भी आना चाहिए। मैंने नृत्य सीखने का निश्चय किया। एक कक्षा में भरती हुआ। एक सत्र के करीब तीन पौण्ड जमा किए। कोई तीन हफ्तों में करीब छह सबक सीखे होंगे। पैर ठीक से तालबद्ध पड़ते न थे। पियानो बजता था, पर वह क्या कह रहा है, कुछ समझ में न आता था। 'एक, दो, तीन' चलता, पर उसके बीच का अन्तर तो वह बाजा ही बताता था, जो मेरे लिए अगम्य था। तो अब क्या किया जाए?अब तो बाबाजी की बिल्ली वाला किस्सा हुआ। चूहों को भगाने के लिए बिल्ली, बिल्ली के लिए गाय, यों बाबाजी का परिवार बढ़ा; उसी तरह मेरे लोभ का परिवार भी बढ़ा। वायोलिन बजाना सीख लूं, तो सुर और ताल का खयाल हो जाए। तीन पौण्ड वायलिन खरीदने में गँवाये और कुछ उसकी शिक्षा के लिए भी दिए! भाषण करना सीखने के लिए एक तीसरे शिक्षक का घर खोजा। उन्हें भी एक गिन्नी तो भेंट की ही। बेल की 'स्टैण्डर्ड एलोक्युशनिस्ट' पुस्तक खरीदी। पिट का एक भाषण शुरू किया।

इन बेल साहब ने मेरे कान में घंटी (बेल) बजायी। मैं जागा।

मुझे कौन इंग्लैण्ड में जीवन बिताना है?लच्छेदार भाषण करना सीखकर मैं क्या करूंगा? नाच-नाचकर मैं सभ्य कैसे बनूंगा?वायलिन तो देश में भी सीखा जा सकता है। मैं तो विद्यार्थी हूँ। मुझे विद्या-धन बढ़ाना चाहिए। मुझे अपने पेशे से सम्बन्ध रखने वाली तैयारी करनी चाहिए। मैं अपने सदाचार से सभ्य समझा जाऊँ तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ना चाहिए।

इन विचारों की धुन में मैंने उपर्युक्त आशय के उद्‌गारों वाला पत्र भाषण शिक्षक को भेज दिया। उनसे मैंने दो या तीन ही पाठ पढ़े थे। नृत्य-शिक्षिका को भी ऐसा ही पत्र लिखा। वायलिन-शिक्षिका के घर वायलिन लेकर पहुँचा। उन्हें जिस दाम में भी वह बिके, बेच डालने की इजाजत दे दी। उनके साथ कुछ मित्रता का

सा सम्बन्ध हो गया था। इस कारण मैंने उनसे अपने मोह की चर्चा की। नाच आदि के जंजाल में से निकल जाने की मेरी बात उन्होंने पसन्द की।

सभ्य बनने की मेरी यह सनक लगभग तीन महीने चली होगी। पोशाक की टीमटाम तो बरसों चली पर अब मैं विद्यार्थी बना।

बलवान से भिड़न्त

अब एशियाई अधिकारियों की ओर लौटें।

एशियाई अधिकारियों का बड़े से बड़ा थाना जोहानिस्बर्ग में था। मैं यह देख रहा था कि उस थाने में हिन्दुस्तानी, चीनी आदि का रक्षण नहीं, बल्कि भक्षण होता था। मेरे पास रोज शिकायतें आतीं, ''हकदार दाखिल नहीं हो सकते और बिना हक वाले सौ-सौ पौंड देकर चले आ रहे हैं। इसका इलाज आप नहीं करेंगे तो और कौन करेगा?'' मेरी भी यही भावना थी। यदि यह सड़ांध दूर न हो, तो मेरा ट्रान्सवाल में बसना व्यर्थ माना जाएगा।

मैं प्रमाण जुटाने लगा। जब मेरे पास प्रमाणों का अच्छा सा संग्रह हो गया, तो मैं पुलिस-कमिश्नर के पास पहुँचा। मुझे लगा कि उसमें दया और न्याय की वृत्ति है। मेरी बात को बिल्कुल अनसुनी करने के बदले उसने मुझे धीरज से सुना और प्रमाण उपस्थित करने का कहा। गवाहों के बयान उसने स्वयं ही लिए। उसे विश्वास हो गया पर जिस तरह मैं जानता था, उसी तरह वह भी जानता था कि दक्षिण अफ्रीका में गोरे पंचों द्वारा गोरे अपराधियों को दण्ड दिलाना कठिन है। उसने कहा, ''फिर भी हम प्रयत्न तो करें। ऐसे अपराधी जूरी द्वारा छोड़ दिए जाएंगे, इस डर से उन्हें न पकड़वाना भी उचित नहीं है, इसलिए मैं तो उन्हें पकड़वाऊँगा। आपको मैं इतना विश्वास दिलाता हूँ कि अपनी मेहनत में मैं कोई कसर नहीं रखूँगा।''

मुझे तो विश्वास था ही। दूसरे अधिकारियों पर भी सन्देह तो था, पर उनके विरुद्ध मेरे पास कमजोर प्रमाण था। दो के बारे में कोई सन्देह नहीं था। अतएव दो के नाम वारंट निकले।

मेरा आना-जाना छिपा रह ही नहीं सकता था। कई लोग देखते थे कि मैं प्रायः प्रतिदिन पुलिस कमिश्नर के यहाँ जाता हूँ। इन दो अधिकारियों के छोटे-बड़े जासूस तो थे ही। वे मेरे दफ्तर पर निगरानी रखते थे और मेरे आने-जाने की खबरें उन अधिकारियों को पहुँचाते थे। यहाँ मुझे यह कहना चाहिए कि उक्त अधिकारियों का अत्याचार इतना ज्यादा था कि उन्हें ज्यादा जासूस नहीं मिलते थे। यदि हिन्दुस्तानियों और चीनियों की मुझे मदद न होती, तो ये अधिकारी पकड़े ही न जाते।

इन दो में से एक अधिकारी भागा। पुलिस कमिश्नर ने बाहर का वारंट निकालकर उसे वापस पकड़वाया। मुकदमा चला। प्रमाण भी मजबूत थे और एक के तो भागने का प्रमाण जूरी के पास पहुँच चुका था, फिर भी दोनों छूट गये!

मुझे बड़ी निराशा हुई। पुलिस कमिश्नर को भी दुःख हुआ। वकालत से मुझे अरुचि हो गयी। बुद्धि का उपयोग अपराध को छिपाने में होता देखकर मुझे बुद्धि ही अप्रिय लगने लगी।

दोनों अधिकारियों का अपराध इतना प्रसिद्ध हो गया था कि उनके छूट जाने पर भी सरकार उन्हें रख

नहीं सकी। दोनों बरखास्त हो गये और एशियाई विभाग कुछ साफ हुआ। अब हिन्दुस्तानियों को धीरज बँधा और उनकी हिम्मत भी बढ़ी।

इससे मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। मेरे धंधे में भी वृद्धि हुई। हिन्दुस्तानी समाज के जो सैंकड़ों पौंड हर महीने रिश्वत में जाते थे, उनमें बहुत कुछ बचत हुई। यह तो नहीं कहा जा सकता कि पूरी रकम बची। बेईमान तो अब भी रिश्वत खाते थे पर यह कहा जा सकता हैं कि जो प्रामाणिक थे, वे अपनी प्रामाणिकता की रक्षा कर सकते थे।

मैं कह सकता हूँ कि इन अधिकारियों के इतने अधम होने पर भी उनके विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से मेरे मन में कुछ भी न था। मेरे इस स्वभाव को वे जानते थे और जब उनकी कंगाल हालत में मुझे मदद करने का मौका मिला, तो मैंने उनकी मदद भी की थी। यदि मेरा विरोध न हो तो उन्हें जोहानिस्बर्ग की म्युनिसिपॉलिटी में नौकरी मिल सकती थी। उनका एक मित्र मुझे मिला और मैंने उन्हें नौकरी दिलाने में मदद करना मंजूर कर लिया, उन्हें नौकरी मिल भी गयी।

मेरे इस कार्य का यह प्रभाव पड़ा कि मैं जिन गोरों के सम्पर्क में आया, वे मेरी तरफ से निर्भय रहने लगे और यद्यपि उनके विभागों के विरुद्ध मुझे लड़ना पड़ता था, तीखे शब्द कहने पड़ते थे, फिर भी वे मेरे साथ मधुर संबंध रखते थे। इस प्रकार का बर्ताव मेरा एक स्वभाव ही था, इसे मैं उस समय ठीक से जानता न था। यह तो मैं बाद में समझने लगा कि ऐसे बर्ताव में सत्याग्रह की जड़ मौजूद हैं और यह अहिंसा का एक विशेष अंग है।

मनुष्य और उसका काम ये दो भिन्न वस्तुएँ हैं। अच्छे काम के प्रति आदर और बुरे के प्रति तिरस्कार होना ही चाहिए। भले-बुरे काम करने वालों के प्रति सदा आदर अथवा दया रहनी चाहिए। यह चीज समझने में सरल है, पर इसके अनुसार आचरण कम से कम होता है। इसी कारण इस संसार में विष फैलता रहता है।

सत्य के शोध के मूल में ऐसी अहिंसा हैं। मैं प्रतिक्षण यह अनुभव करता हूँ कि जब तक यह अहिंसा हाथ में नहीं आती, तब तक सत्य मिल ही नहीं सकता। व्यवस्था या पद्धति के विरुद्ध झगड़ना शोभा देता है, पर व्यवस्थापक के विरुद्ध झगड़ा करना तो अपने विरुद्ध झगड़ने के समान है, क्योंकि हम सब एक ही कूंची से रचे गये हैं, एक ही ब्रह्मा की संतान हैं। व्यवस्थापक में अनन्त शक्तियाँ निहित हैं। व्यवस्थापक का अनादर या तिरस्कार करने से उन शक्तियों का अनादर होता है और वैसा होने पर व्यवस्थापक को और संसार को हानि पहुँचती है।

आत्मिक शिक्षा

विद्यार्थियों के शरीर और मन को शिक्षित करने की अपेक्षा आत्मा को शिक्षित करने में मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। आत्मा के विकास के लिए मैंने धर्मग्रंथों पर कम आधार रखा था। मैं मानता था कि विद्यार्थियों को अपने-अपने धर्म के मूल तत्त्व जानने चाहिए, अपने-अपने धर्मग्रंथों का साधारण ज्ञान होना चाहिए। इसलिए मैंने यथाशक्ति इस बात की व्यवस्था की थी कि उन्हें यह ज्ञान मिल सके; किन्तु उसे मैं

बुद्धि की शिक्षा का अंग मानता हूँ। आत्मा की शिक्षा एक बिलकुल भिन्न विभाग है। इसे मैं टॉल्स्टॉय आश्रम के बालकों को सिखाने लगा उसके पहले ही जान चुका था। आत्मा का विकास करने का अर्थ है चरित्र का निर्माण करना, ईश्वर का ज्ञान पाना, आत्मज्ञान प्राप्त करना। इस ज्ञान को प्राप्त करने में बालकों को बहुत ज्यादा मदद की जरूरत होती है और इसके बिना दूसरा ज्ञान व्यर्थ है, हानिकारक भी हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास था।

मैंने सुना है कि लोगों में यह भ्रम फैला हुआ है कि आत्मज्ञान चौथे आश्रम में प्राप्त होता है; लेकिन जो लोग इस अमूल्य वस्तु को चौथे आश्रम तक मुलतवी रखते हैं, वे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं करते, बल्कि बुढ़ापा और दयाजनक बचपन पाकर पृथ्वी पर भाररूप बनकर जीते हैं। इस प्रकार का सार्वत्रिक अनुभव पाया जाता है। संभव है कि सन् 1911-12 में इन विचारों को इस भाषा में न रखता, पर मुझे यह अच्छी तरह याद है कि उस समय मेरे विचार इसी प्रकार के थे।

आत्मिक शिक्षा किस प्रकार दी जाय?मैं बालकों से भजन गवाता, उन्हें नीति की पुस्तकें पढ़कर सुनाता, किन्तु इससे मुझे संतोष न होता था। जैसे-जैसे मैं उनके संपर्क में आता गया, मैंने यह अनुभव किया कि यह ज्ञान पुस्तकों द्वारा तो दिया ही नहीं जा सकता। शरीर की शिक्षा जिस प्रकार शारीरिक कसरत द्वारा दी जाती है और बुद्धि की बौद्धिक कसरत द्वारा, उसी प्रकार आत्मा की शिक्षा आत्मिक कसरत द्वारा ही दी जा सकती है। आत्मा की कसरत शिक्षक के आचरण द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अतएव युवक हाजिर हों चाहे न हों, शिक्षक को सावधान रहना चाहिए। लंका में बैठा हुआ शिक्षक भी अपने आचरण द्वारा अपने शिष्यों की आत्मा को हिला सकता है। मैं स्वयं झूठ बोलूँ और अपने शिष्यों को सच्चा बनाने का प्रयत्न करूँ, तो वह व्यर्थ ही होगा। डरपोक शिक्षक शिष्यों को वीरता नहीं सिखा सकता। मैंने देखा कि मुझे अपने पास रहने वाले युवकों और युवतियों के सम्मुख पदार्थपाठ-सा बनकर रहना चाहिए। इस कारण मेरे शिष्य मेरे शिक्षक बनें। मैं यह समझा कि मुझे अपने लिए नहीं, बल्कि उनके लिए अच्छा बनना और रहना चाहिए। अतएव कहा जा सकता है कि टॉल्स्टॉय आश्रम का मेरा अधिकतर संयम इन युवकों और युवतियों की बदौलत था।

आश्रम में एक युवक बहुत ऊधम मचाता था, झूठ बोलता था, किसी से दबता नहीं था और दूसरों के साथ लड़ता-झगड़ता रहता था। एक दिन उसने बहुत ही ऊधम मचाया। मैं घबरा उठा। मैं विद्यार्थियों को कभी सजा न देता था। इस बार मुझे बहुत क्रोध हो आया। मैं उसके पास पहुँचा। समझाने पर वह किसी प्रकार समझता ही न था। उसने मुझे धोखा देने का भी प्रयत्न किया। मैंने अपने पास पड़ा हुआ रूल उठाकर उसकी बाँह पर दे मारा। मारते समय मैं काँप रहा था। इसे उसने देख लिया होगा। मेरी ओर से ऐसा अनुभव किसी विद्यार्थी को इससे पहले नहीं हुआ था। विद्यार्थी रो पड़ा। उसने मुझसे माफी माँगी। उसे डंडा लगा और चोट पहुँची, इससे वह रोया न था। अगर वह मेरा मुकाबला करना चाहता, तो मुझसे निबट सकने की शक्ति उसमें थी। उसकी उमर कोई सतरह साल की रही होगी। उसका शरीर सुगठित था। पर मेरे रूल में उसे मेरे दुःख का दर्शन हो गया। इस घटना के बाद उसने फिर कभी मेरा सामना नहीं किया। लेकिन उसे रूल मारने का पछतावा मेरे दिल में आज तक बना हुआ है। मुझे भय है कि उसे मारकर मैंने अपनी आत्मा

का नहीं, बल्कि अपनी पशुता का ही दर्शन कराया था।

बालकों को मारपीट कर पढ़ाने का मैं हमेशा विरोधी रहा हूँ। मुझे ऐसी एक ही घटना याद है कि जब मैंने अपने लड़कों में से एक को पीटा था। रूल से पीटने में मैंने उचित कार्य किया या नहीं, इसका निर्णय मैं आज तक कर नहीं सका हूँ। इस दण्ड के औचित्य के विषय में मुझे शंका है, क्योंकि उसमें क्रोध भरा था और दण्ड देने की भावना थी। यदि उसमें केवल मेरे दु:ख का ही प्रदर्शन होता, तो मैं उस दण्ड को उचित समझता पर उसमें विद्यमान भावना मिश्र थी। इस घटना के बाद तो मैं विद्यार्थियों को सुधारने की अधिक अच्छी रीति सीखा। यदि इस कला का उपयोग मैंने उक्त अवसर पर किया होता, तो उसका कैसा परिणाम होता, यह मैं कह नहीं सकता। वह युवक तो इस घटना को तुरन्त भूल गया। मैं यह नहीं कह सकता कि उसमें बहुत सुधार हो गया, पर उस घटना ने मुझे इस बात के लिए अधिक सोचने को विवश किया कि विद्यार्थी के प्रति शिक्षक का क्या धर्म है। उसके बाद युवकों द्वारा ऐसे ही दोष हुए, लेकिन मैंने फिर कभी दण्डनीति का उपयोग नहीं किया। इस प्रकार आत्मिक ज्ञान देने के प्रयत्न में मैं स्वयं आत्मा के गुण को अधिक समझने लगा।

शांति निकेतन

राजकोट से मैं शांति निकेतन गया। वहाँ शांति निकेतन के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने मुझ पर अपना प्रेम बरसाया। स्वागत की विधि में सादगी, कला और प्रेम का सुन्दर मिश्रण था। वहाँ मैं काकासाहब कालेलकर से पहले-पहल मिला।

कालेलकर 'काकासाहब' क्यों कहलाते थे, यह मैं उस समय नहीं जानता था; लेकिन बाद में मालूम हुआ कि केशवराव देशपांडे, जो विलायत में मेरे समकालीन थे, और जिनके साथ विलायत में मेरा अच्छा परिचय हो गया था, बड़ौदा राज्य में 'गंगनाथ विद्यालय' चला रहे हैं। उनकी अनेक भावनाओं में से एक यह भी थी कि विद्यालय में पारिवारिक भावना होनी चाहिए। इस विचार से वहाँ सब अध्यापकों के नाम रखे गये थे। उनमें कालेलकर को 'काका' नाम मिला। फड़के 'मामा' बने। हरिहर शर्मा 'अण्णा' कहलाये। दूसरों के भी यथायोग्य नाम रखे गये। काका के साथी के रूप में आनन्दानन्द (स्वामी) और मामा के मित्र के नाते पटवर्धन (आप्पा) आगे चलकर इस कुटुम्ब में सम्मिलित हुए। इस कुटुम्ब के उपर्युक्त पाँचों सदस्य एक के बाद एक मेरे साथी बने। देशपांडे 'साहब' के नाम से पुकारे जाने लगे। साहब का विद्यालय बन्द होने पर वह कुटुम्ब बिखर गया पर इन लोगों ने अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध न छोड़ा। काकासाहब भिन्न-भिन्न अनुभव प्राप्त करने में लग गए। इसी सिलसिले में वे इस समय शांति निकेतन में रहते थे। इसी मंडल के एक और सदस्य चिंतामणि शास्त्री भी वहाँ रहते थे। ये दोनों संस्कृत सिखाने में हिस्सा लेते थे।

शांति निकेतन में मेरे मण्डल को अलग से ठहराया गया था। यहाँ मगनलाल गांधी उस मंडल को संभाल रहे थे और फीनिक्स आश्रम के सब नियमों का पालन सूक्ष्मता से करते-कराते थे। मैंने देखा कि उन्होंने अपने प्रेम, ज्ञान और उद्योग के कारण शांति निकेतन में अपनी सुगन्ध फैला दी थी। ऐण्ड्रूज तो यहाँ थे ही। पियर्सन थे। जगदानन्दबाबू, नेपालबाबू, संतोष बाबू, क्षितिमोहनबाबू, नगेनबाबू, शरदबाबू और

कालीबाबू के साथ हमारा खासा सम्पर्क रहा।

अपने स्वभाव के अनुसार मैं विद्यार्थियों और शिक्षकों में घुलमिल गया, और स्वपरिश्रम के विषय में चर्चा करने लगा। मैंने वहाँ के शिक्षकों के सामने यह बात रखी कि वैतनिक रसोइयों के बदले शिक्षक और विद्यार्थी अपनी रसोई स्वयं बना लें तो अच्छा हो। ऐसा करने से आरोग्य और नीति की दृष्टि से रसोईघर पर शिक्षक-समाज का प्रभुत्व स्थापित होगा और विद्यार्थी स्वावलंबन तथा स्वयंपाक का पदार्थ-पाठ सीखेंगे। एक-दो शिक्षकों ने सिर हिलाया। कुछ लोगों को यह प्रयोग बहुत अच्छा लगा। नई चीज, फिर यह कैसी भी क्यों न हो, बालकों को तो अच्छी लगती ही है। इस न्याय से यह चीज भी उन्हें अच्छी लगी और प्रयोग शुरु हुआ। जब कविश्री के सामने यह चीज रखी गयी, तो उन्होंने अपनी यह सम्मति दी कि यदि शिक्षक अनुकूल हों, तो स्वयं उन्हें यह प्रयोग अवश्य पसंद होगा। उन्होंने विद्यार्थियों से कहा 'इसमें स्वराज्य की चाबी मौजूद है।'

पियर्सन ने प्रयोग को सफल बनाने में अपने-आपको खपा दिया। उन्हें यह बहुत अच्छा लगा। एक मण्डली साग काटने वालों की बनी, दूसरी अनाज साफ करने वालों की। रसोई घर के आस-पास शास्त्रीय ढंग से सफाई रखने के काम में नगेनबाबू आदि जुट गए। उन लोगों को कुदाली से काम करते देखकर मेरा हृदय नाच उठा।

लेकिन मेहनत के इस काम को सवा सौ विद्यार्थी और शिक्षक भी एकाएक नहीं अपना सकते थे। अतएव रोज चर्चाएँ चलतीं। कुछ लोग थक जाते। परन्तु पियर्सन क्यों थकने लगे?वे हँसते चेहरे से रसोई घर के किसी-न-किसी काम में जुटे ही रहते। बड़े-बड़े बरतन माँजना उन्हीं का काम था। बरतन माँजने वाली टुकड़ी की थकान उतारने के लिए कुछ विद्यार्थी वहाँ सितार बजाते थे। विद्यार्थियों ने प्रत्येक काम को पर्याप्त उत्साह से अपना लिया और समूचा शांति निकेतन मधुमक्खियों की छत्ते की भाँति गूँजने लगा।

इस प्रकार के फेर-फार जब एक बार शुरू हो जाते हैं, तो फिर वे रुक नहीं पाते। फीनिक्स का रसोईघर स्वावलम्बी बन गया था, यही नहीं, बल्कि उसमें रसोई भी बहुत सादी बनती थी। मसालों का त्याग किया गया था। अतएव भात, दाल, साग तथा गेहूँ के पदार्थ भी भाप के द्वारा पका लिए जाते थे। बंगाली खुराक में सुधार करने के विचार से उस प्रकार का एक रसोईघर शुरू किया था। उसमें एक-दो अध्यापक और कुछ विद्यार्थी सम्मिलित हुए थे। ऐसे ही प्रयोगों में से सर्वसाधारण रसोईघर को स्वावलम्बी बनाने का प्रयोग शुरु किया जा सका था।

पर आखिर कुछ कारणों से यह प्रयोग बन्द हो गया। मेरा विश्वास यह है कि इस जगद्-विख्यात संस्था ने थोड़े समय के लिए भी इस प्रयोग को अपनाकर कुछ खोया नहीं, और उससे प्राप्त अनेक अनुभव उसके लिए उपयोगी सिद्ध हुए थे।

मेरा विचार शांतिनिकेतन में कुछ समय रहने का था; किन्तु विधाता मुझे जबरदस्ती घसीटकर ले गया। मैं मुश्किल से वहाँ एक हफ्ता रहा होऊँगा कि इतने में पूना से गोखले के अवसान का तार मिला। शांति निकेतन शोक में डूब गया। सब मेरे पास संवेदना के लिए आये। मन्दिर में विशेष सभा की गयी। यह गंभीर दृश्य अपूर्व था। मैं उसी दिन पूना के लिए रवाना हुआ। पत्नी और मगन लाल गांधी को अपने साथ

लिया, बाकी सब शांति निकेतन में रहे।

बर्दवान तक ऐण्ड्रूज मेरे साथ आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा, ''क्या आपको ऐसा लगता है कि हिन्दुस्तान में आपके लिए सत्याग्रह करने का अवसर आएगा?और अगर ऐसा हो, तो कब आएगा, इसकी कोई कल्पना आपको है?''

मैंने जवाब दिया, ''इसका उत्तर देना कठिन है। अभी एक वर्ष तक तो मुझे कुछ करना ही नहीं है। गोखले ने मुझसे प्रतिज्ञा करवायी है कि मुझे एक वर्ष तक देश में भ्रमण करना है, किसी सार्वजनिक प्रश्न पर अपना विचार न तो बनाना है, न प्रकट करना है। मैं इस प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करूंगा। बाद में भी मुझे किसी प्रश्न पर कुछ कहने की जरूरत होगी तभी मैं कहूँगा। इसलिए मैं नहीं समझता कि पाँच वर्ष तक सत्याग्रह करने का कोई अवसर आएगा।''

यहाँ यह कहना अप्रस्तुत न होगा कि 'हिन्द स्वराज्य' में मैंने जो विचार व्यक्त किये हैं, गोखले उनका मजाक उड़ाते थे और कहते थे, ''आप एक वर्ष हिन्दुस्तान में रहकर देखेंगे, तो आपके विचार अपने-आप ठिकाने आ जाएँगे।''

खादी का जन्म

मुझे याद नहीं पड़ता कि सन् 1908 तक मैंने चरखा या करघा कहीं देखा हो। फिर भी मैंने 'हिन्द स्वराज्य' में यह माना था कि चरखे के जरिये हिन्दुस्तान की कंगालियत मिट सकती है और यह तो सब के समझ सकने जैसी बात है कि जिस रास्ते भुखमरी मिटेगी, उसी रास्ते स्वराज्य मिलेगा। सन् 1915 में मैं दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान वापस आया, तब भी मैंने चरखे के दर्शन नहीं किये थे। आश्रम के खुलते ही उसमें करघा शुरू किया था। करघा शुरू करने में भी मुझे बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। हम सब अनजान थे, अतएव करघे के मिल जाने भर से करघा चल नहीं सकता था। आश्रम में हम सब कलम चलाने वाले या व्यापार करना जानने वाले लोग इकट्ठा हुए थे; हम में कोई कारीगर नहीं था। इसलिए करघा प्राप्त करने के बाद बुनना सिखाने वाले की आवश्यकता पड़ी। काठियावाड़ और पालनपुर से करघा मिला और एक सिखाने वाला आया। उसने अपना पूरा हुनर नहीं बताया पर मगनलाल गांधी शुरु किये हुए काम को जल्दी छोड़ने वाले न थे। उनके हाथ में कारीगरी तो थी ही, इसलिए उन्होंने बुनने की कला पूरी तरह समझ ली और फिर आश्रम में एक के बाद एक नये-नये बुनने वाले तैयार हुए।

हमें तो अब अपने कपड़े तैयार करके पहनने थे, इसलिए आश्रमवासियों ने मिल के कपड़े पहनना बन्द किया और यह निश्चय किया कि वे हाथ-करघे पर देशी मिल के सूत का बुना हुआ कपड़ा पहनेंगे। ऐसा करने से हमें बहुत कुछ सीखने को मिला। हिन्दुस्तान के बुनकरों के जीवन की, उनकी आमदनी की, सूत प्राप्त करने में होने वाली उनकी कठिनाई की, इसमें वे किस प्रकार ठगे जाते थे और आखिर किस प्रकार दिन-दिन कर्जदार होते जाते थे, इस सबकी जानकारी हमें मिली। हम स्वयं अपना सब कपड़ा तुरन्त बुन सकें, ऐसी स्थिति तो थी ही नहीं। इस कारण से बाहर के बुनकरों से हमें अपनी आवश्यकता का कपड़ा बुनवाना पड़ता था। देशी मिल के सूत का हाथ से बुना कपड़ा झट मिलता नहीं था। बुनकर सारा अच्छा

कपड़ा विलायती सूत का ही बुनते थे, क्योंकि हमारी मिलें महीन सूत कातती न थी। आज भी वे महीन सूत अपेक्षाकृत कम ही कातती हैं; बहुत महीन तो कात ही नहीं सकतीं। बड़े प्रयत्न के बाद कुछ बुनकर हाथ लगे, जिन्होंने देशी सूत का कपड़ा बुन देने की मेहरबानी की। इन बुनकरों को आश्रम की तरफ से यह गारंटी देनी पड़ी थी कि देशी सूत का बुना हुआ कपड़ा खरीद लिया जाएगा। इस प्रकार विशेष रूप से तैयार कराया हुआ कपड़ा बुनवाकर हमने पहना और मित्रों में उसका प्रचार किया। यों हम कातने वाली मिलों के अवैतनिक एजेंट बने। मिलों के सम्पर्क में आने पर उनकी व्यवस्था की और उनकी लाचारी की जानकारी हमें मिली। हमने देखा कि मिलों का ध्येय खुद कातकर खुद ही बुनना था, वे हाथ-करघों की सहायता स्वेच्छा से नहीं, बल्कि अनिच्छा से करती थीं।

यह सब देखकर हम हाथ से कातने के लिए अधीर हो उठे। हमने देखा कि जब तक हाथ से कातेंगे नहीं, तब तक हमारी पराधीनता बनी रहेगी। मिलों के एजेंट बनकर हम देशसेवा करते हैं, ऐसा हमें प्रतीत न हुआ।

लेकिन न तो कहीं चरखा मिलता था और न कहीं चरखे का चलाने वाला मिलता था। कुकड़ियाँ आदि भरने के चरखे तो हमारे पास थे, पर उन पर काता जा सकता है इसका तो हमें खयाल ही नहीं था। एक बार कालिदास वकील एक बहन को खोजकर लाए। उन्होंने कहा कि यह बहन सूत कातकर दिखाएगी। उसके पास एक आश्रमवासी को भेजा, जो नये काम सीख लेने में बड़े होशियार थे, पर हुनर उनके हाथ न लगा।

दिन तो बीते जा रहे थे। मैं अधीर हो उठा था। आश्रम में आने वाले हर ऐसे आदमी से, जो इस विषय में कुछ बता सकता हो, मैं पूछताछ किया करता था। पर कातने का इजारा तो स्त्री का ही था। अतएव ओने-कोने में पड़ी हुई कातना जानने वाली स्त्री तो किसी स्त्री को ही मिल सकती थी।

सन् 1917 में मेरे गुजराती मित्र मुझे भड़ौंच शिक्षा परिषद् में घसीट ले गये थे। वहाँ महासाहसी विधवा बहन गंगाबाई मुझे मिलीं। वे पढ़ी-लिखी अधिक नहीं थीं, पर उनमें हिम्मत और समझदारी साधारणतया जितनी शिक्षित बहनों में होती है, उससे अधिक थी। उन्होंने अपने जीवन में अस्पृश्यता की जड़ काट डाली थी, वे बेधड़क दलितों से मिलती और उनकी सेवा करती थीं। उनके पास पैसा था, पर उनकी अपनी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। उनका शरीर सुदृढ़ था और चाहे जहाँ अकेले जाने में उन्हें जरा भी झिझक नहीं होती थी। वे घोड़े की सवारी के लिए भी तैयार रहती थीं। इन बहन का विशेष परिचय गोधरा की परिषद् में प्राप्त हुआ। अपना दुःख मैंने उनके सामने रखा और दमयंती जिस प्रकार नल की खोज में भटकती थी, उसी प्रकार चरखे की खोज में भटकने की प्रतिज्ञा करके उन्होंने मेरा बोझ हलका कर दिया।

****

शब्दार्थ –

मुलतवी	–	स्थगित
आरोग्य	–	स्वास्थ्य

आईना	–	दर्पण
उद्गार	–	अपने मन की बात
ऊधम	–	शरारत
विलायत	–	इंग्लैण्ड
अवसान	–	मृत्यु
इज़ारा	–	ठेका / एकाधिकार

अभ्यास प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न –

1. एशियाई अधिकारियों का सबसे बड़ा थाना था–

   (क) जूलू में (ख) चीन में

   (ग) जोहानिस्बर्ग में (घ) नेटाल में ( )

2. शान्तिनिकेतन में गांधी जी पहली बार किनसे मिले?

   (क) केशवराय देशपाण्डे से (ख) जगदानन्द बाबू से

   (ग) मगन लाल गांधी से (घ) काका कालेलकर से ( )

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. 'आहार-नीति' पुस्तक में किनके विचारों का वर्णन किया गया है?
2. गांधी जी के अनुसार आत्मज्ञान प्राप्ति के बारे में लोगों ने क्या भ्रम फैला रखा है?
3. 'हिन्द स्वराज्य' पर गांधी जी के विचारों का मज़ाक उड़ाते हुए गोखले ने क्या कहा?
4. शान्तिनिकेतन में बरतन माँजने वाली टुकड़ी थकान उतारने के लिए क्या करती थी?

लघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. बेल साहब ने गांधी जी के जीवन-प्रवाह को किस तरह प्रभावित किया?
2. दण्ड देने के औचित्य में गांधी जी को क्या शंका थी?
3. गोखले ने गांधी जी को क्या प्रतिज्ञा करवाई?
4. 'फीनिक्स का रसोईघर स्वावलम्बी बन गया था।'- कैसे?

निबंधात्मक प्रश्न–

1. गांधी जी ने सभ्य बनने के लिए जो प्रयोग किए, उन्हें अपने शब्दों में लिखिए।
2. संकलित आत्मकथांश के आधार पर गांधी जी के चरित्र की विशेषताएँ लिखिए।
3. 'खादी का जन्म' पाठांश का सार अपने शब्दों में लिखिए।